International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 24-02-2022, Accepted: 11-03-2022, Published: 26-03-2022
Volume 8, Issue 2, 2022, Page No. 35-39

श्रीमद्भगवद्गीता में ध्यान–योग के साधन

अजित कुमार
संस्कृत विभाग, असिस्टेंट प्रोफेसर, लेडी श्रीराम कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश
गीता के छठे अध्याय में 'ध्यान–योगी' के लक्षण बताये गए हैं। वे लक्षण क्या हैं। उस ध्यान–योगी का व्यवहार कैसा होता है? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–''जिस प्रकार वायु–रहित स्थान पर रखा हुए दीपक की लौ कांपती नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिसका चित्त वश में है और जो आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने के प्रयत्न कर रहा है, वह ध्यान–योगी है। जिस अवस्था में पहुँचकर, योग के अभ्यास द्वारा चित्त निरूद्ध और उपराम को प्राप्त हो जाता है, जिस अवस्था में अपनी आत्मा के द्वारा ही आत्मा (परमात्मा) को पहचान कर अपने में सन्तोष पाता है, जिस अवस्था में पहुँचकर इन्द्रियों से न प्राप्त होने वाले किन्तु बुद्धि से प्राप्त होने वाले परम सुख को अनुभव करता है, जिस अवस्था में स्थित होकर यह अपने तत्त्व (अपने मूल) से चलायमान नहीं होता, डिगता नहीं है, जिसे पा जाने पर यह समझता है कि इससे बड़ा दूसरा कोई लाभ नहीं है और जिसमें स्थित हो जाने पर यह बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता है, वह ध्यान योगी है।''[1] इस ध्यान–योगी की स्थिति को प्राप्त करने के लिए कौन–कौन साधन हैं, उन सभी साधनों का विस्तृत–विवेचन यहां किया है।

मूल शब्दः गीता, श्रीकृष्ण, ध्यान, योगी, समत्व, चित्त, एकाग्र

प्रस्तावना
भगवद्गीता के टीकाकारों का मानना है कि गीता तीन भागों में विभाजित है। गीता में अठारह अध्याय हैं। जिनमें से प्रथम छह अध्यायों में कर्मयोग का वर्णन है। सातवें अध्याय से लेकर 12वें अध्याय तक भक्तियोग का वर्णन है और 13वें अध्याय से लेकर 18वें अध्याय तक 'ज्ञानयोग' का विषय है। परन्तु गीता के टीकाकारों ने इन तीनों (कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग) में से किसी एक दृष्टि को विशेष रूप से महत्त्व दिया है। जैसे–शङ्कराचार्य आदि अद्वैतवादी गीता को 'ज्ञानयोग' का ग्रन्थ मानते हैं, रामानुजाचार्य आदि विशिष्टाद्वैतवादी तथा माध्वाचार्य आदि द्वैतवादी गीता को 'भक्तियोग' का ग्रन्थ मानते हैं, बालगंगाधर तिलक आदि कर्मवादी गीता को 'कर्मयोग' का ग्रन्थ मानते हैं। ये सभी टीकाकार यदि यत्र–तत्र अपनी मान्यता के विपरीत किसी विषय को देखते हैं तो वहाँ पर अपनी मान्यता के अनुसार समाधान देने का प्रयास करते हैं। गीता में वास्तविक रूप में तीनों मार्गों का प्रतिपादन किया गया है और तीनों द्वारा जीवन में शान्ति की प्राप्ति होती है, यह भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं घोषणा की है–

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तॉंस्तथैव भाजाम्यहम्।

''अर्थात् जो जिस मार्ग से भगवान को पाना चाहता है, ज्ञान मार्ग से हो, भक्ति मार्ग से हो, कर्म मार्ग से हो, सब मार्गों से वहीं पहुँचते हैं, इन मार्गों में आपस में कोई विरोध नहीं है।''[2] जो व्यक्ति इन मार्गों में परस्पर विरोधाभास ढूंढते हैं, वे गीता के वास्तविक तत्त्व को नहीं समझते।
प्रत्येक मनुष्य की मानसिक–संरचना अलग–अलग होती है। किसी मनुष्य को ज्ञान का मार्ग सरल लगता है, किसी को भक्ति का मार्ग और किसी को कर्मयोग का मार्ग सरल प्रतीत होता है। जिसको अपनी रुचि के अनुसार जो मार्ग अनुकूल प्रतीत हो, वह उस मार्ग का अनुगमन करे, परन्तु संसार के सभी प्राणी कर्म करते हैं, क्योंकि कर्म से बचना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव सा प्रतीत होता है, इसलिए कर्मयोग का मार्ग सरल होने से सभी के लिए सबसे अधिक व्यवहारिक है। गीता में इसी कर्मयोग का पहले छह अध्यायों में विस्तृत विवेचन किया गया है। छठे अध्याय में इस कर्मयोग का साधन क्या है? यह विस्तार से समझाया है।
कर्मयोग का अर्थ है–'काम तथा क्रोध' को त्याग देना इसी को 'निष्काम–कर्म' कहते हैं। यह तभी हो सकता है जब इन्द्रियों को उनके विषयों से नियन्त्रित किया जाए और इन्द्रियों पर नियन्त्रण ध्यान द्वारा ही किया जा सकता है। वह 'ध्यान' करने की प्रक्रिया क्या है, उस 'ध्यान' का उपाय क्या है, इसी ध्यान का वर्णन गीता के छठे अध्याय में किया गया है। छठे अध्याय का नाम ही 'ध्यान–योग' अथवा 'आत्म–संयम–योग' है। यह 'ध्यान–योग' पूर्व में कह गए तीनों योगों से भिन्न कोई चौथा योग नहीं है अपितु यह 'ध्यान–योग' 'कर्मयोग' का साधन है। 'ध्यान' को ही यहाँ पर 'ध्यान–योग' अथवा 'आत्मसंयम योग' कहा गया है। आगे आने वाले छह (7–12) अध्यायों में भक्तियोग का वर्णन आएगा इसलिए इस छठे अध्याय में 'ध्यान–योग' का विवेचन करके 'भक्ति–योग' की नींव स्थापित कर दी है।

ध्यान–योग के साधन

गीता में श्रीकृष्ण ने जो 'कर्म–योग' का अर्थ किया है, वह है–'फल की प्राप्ति की आसक्ति का त्याग करना'।[3] फल की आसक्ति त्याग देने से 'कर्म' 'अकर्म' हो जाता है, तब योग तथा सांख्य में कोई भेद नहीं रहता है क्योंकि सांख्य या संन्यास–मार्ग में भी जब कर्मों के त्याग की बात की जाती है तब उसका तात्पर्य कर्मों के फलों की प्राप्ति की आसक्ति को छोड़ना ही होता है। 'कर्मयोग' भी यही कहता है, परन्तु फल की आसक्ति का त्याग कर देना कोई सरल कार्य नहीं है। यह आसक्ति कैसे दूर हो?

इसी शङ्का का समाधान करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि इसका उपाय 'इन्द्रिय–निग्रह' है।[4] जब तक इन्द्रियाँ विषयों की ओर आकृष्ट होती रहेंगी विषयों का सङ्कल्प करती रहेंगी, उनमें रस लेती रहेंगी तब तक तो आसक्ति छूट ही नहीं सकेगी। विषयों का रस हमें सदा फल प्राप्ति के लिए अपनी ओर आकर्षित करेगा। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–''इन्द्रियों के दासत्व से छूटकर, इन्द्रियों का आश्रय न लेकर, अपने–आप पर विश्वास करके उठ खड़ा हो, अपने–आपको कभी भी नीचे न गिरने दे। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है।''[5] इसी विचार को पकड़कर मनुष्य को अपने उद्धार के लिए साधना में लग जाना चाहिए।

गीता में ध्यानयोग के साधनों का वर्णन करते हुए जिन साधनों का प्रतिपादन किया है वे हैं– (1) ध्यान को निरनतर करना (2) ध्यान एकान्त में करना, (3) एकाकी (अकेले) करना, (4) इन्द्रिय–नियन्त्रण करना, (5) वासनाओं से रहित होना, (6) अपरिहग्रह (भौतिक वस्तुओं का संग्रह न करना), (7) एकाग्रता से करना, (8) आसन पर बैठकर करना, (9) भयरहित, (10) ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन करना, (11) भगवान में चित्त लगाना, (12) नियमित जीवन जीना।

1. सतत ध्यान

'साधक को ध्यान निरन्तर प्रतिदिन करना चाहिए'–'योगी युञ्जीत सततम्'।[6] ध्यान कभी किया कभी नहीं किया–इससे कोई विशेष लाभ नहीं होता है। प्रतिदिन लगातार ध्यान का अभ्यास करने से चेतना जागृत हो जाती है और ऊर्ध्वमुखी विकास प्रारम्भ हो जाता है। योगदर्शन के साधन–पाद में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं–''योगसाधक को निरन्तर दीर्घकाल तक ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। जो अशुद्ध संस्कारों का संग्रह अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाता है, वह बुरे संस्कारों का संग्रह बिना निरन्तर ध्यान के दग्धबीज को प्राप्त नहीं होता है। जो साधक दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर अभ्यास करते हुए निराशाग्रस्त नहीं होता, वह योग–पथ पर आगे बढ़ता हुआ अवश्य सफल होता है।''[7]

2. एकान्त ध्यान

''ध्यान का दूसरा नियम यह है कि वह एकान्त में करना चाहिए–'आत्मानं रहसि स्थितः'[8]। इसीलिए प्राचीन समय में ऋषि–मुनि गंगा के किनारे या हिमालय की कन्दराओं में रहते थे, जहाँ पर सांसारिक कृत्रिम वातावरण के स्थान पर प्रकृति का स्वाभाविक वातावरण होता था, जहाँ बैठते ही साधक स्वयं अपने–आप ध्यान की स्थिति में उतर जाता था।

3. एकाकी ध्यान

ध्यान का तीसरा नियम यह है कि ''एकान्त में अकेला बैठकर अपने मन को वश में करके वासना को छोड़कर अपने मन को परमात्मा के साथ लगातार जोड़ें।''[9] सभी के बीच में बैठकर ध्यान नहीं लगता है। अकेले में उस महान विश्व–शक्ति का सूक्ष्म स्पन्दन हृदय को एकदम स्पश करता है, इसलिए करता है, क्योंकि वहाँ पर विक्षोभ (चंचलता) उत्पन्न करने वाले अन्य कारण विद्यमान नहीं रहते हैं।

4. इन्द्रिय–निग्रह

''इन्द्रियों का संयम। गीता की दृष्टि में इन्द्रियों के निग्रह का यह तात्पर्य नहीं है कि इन्द्रियों को विषयों से भूखा मार दिया जाए। जो व्यक्ति इन्द्रियों के संयम या निग्रह का अर्थ इन्द्रियों से कार्य न लेना मान लेते हैं, वे गीता के अभिप्राय को नहीं जानते। गीता तो 'युक्त' शब्द पर बल देती है। व्यक्ति इन्द्रियों से कार्य ले, परन्तु कितना? जितने को 'युक्त' ठीक–ठीक कहा जा सके। न तो मनुष्य इन्द्रियों का दास ही हो, न ही इन्द्रियों को तड़पाता ही रहे। जो व्यक्ति इन्द्रियों का निग्रह करने के लिए वन में भाग जाता है, वह जितेन्द्रिय नहीं है, पराजितेन्द्रिय है, वीर नहीं, भीरू है। महात्मा गाँधी ने ठीक कहा है–'होंठ' सी लेने से, जीभ काट लेने से मौन अवश्य सिद्ध हो सकता है, परन्तु सच्चा मौन नहीं है। सच्चा मौनी वही है जो वाक्–शक्ति अविकल होते हुए भी मुख से व्यर्थ में अपशब्द प्रयोग नहीं करता।''[10]

5. वासना–त्याग

''व्यक्ति इन्द्रियों से चित्त को दूर करके एकान्त में बैठ सकता है, परन्तु फिर भी विषयों की वासना उसे पीड़ित कर सकती है। वह विषयों का आस्वाद तो नहीं लेता, परन्तु विषयों के भोग की वासना को हृश्य में लिए हुए बैठा रहता है। इसलिए ध्यान का यह नियम है कि इन्द्रियों को ही विषयों से खींचकर सन्तुष्ट न रहे, अपितु विषयों की वासना का भी त्याग करे।''[11] अगर एकान्त में बैठकर, विषय से दूर हटकर भी विषयों के ध्यान में डूबा रहे तो एकान्त भी व्यर्थ है, एकाकीपन भी व्यर्थ है।

6. अपरिग्रह

अपरिग्रह का अर्थ है–''संसार के बन्धन के कारण धनादि भोग्य पदार्थों के संग्रह करने में दोष, संग्रह किए हुओं की रक्षा करने में दोष, उनके नष्ट होने में दोष, उनमें आसक्त होने में दोष दिखाई देने से इन भोग्य पदार्थों का संग्रह न करना ही 'अपरिग्रह' है।''[12] जो इन इन्द्रियों के विषयों से अपने मन को लौटा लेता है और जिसमें इन इन्द्रियों के विषयों के प्रति लालसा भी नहीं रहती उसका जीवन अपरिग्रह से परिपूर्ण हो जाता है, वह संसार की किसी भोग्य वस्तु से चिपकता नहीं है, उसे संग्रह करके रखने की लालसा नहीं रहती है।

7. एकाग्रता

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–''हे पार्थ' जब मनुष्य अपने मन में गति करने वाली सभी कामनाओं का त्याग कर देता है और जब वह अपने आप में ही सन्तुष्ट रहने लगता है, (अपनी सन्तुष्टि के लिए बाहरी विषयों की खोज नहीं करता है) तब वह स्थिर–प्रज्ञ अर्थात् एकाग्र चितवाला होता है।''[13] आगे इसी विषय को और स्पष्ट करते हैं– ''जिस मनुष्य का मन दुःखों से उद्विग्न नहीं होता, सुखों की प्राप्ति की कोई लालसा नहीं रहती है, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो जाता है, वह एकाग्र बुद्धि वाला व्यक्ति मुनि कहलाता है।''[14] एकाग्र बुद्धि वाला व्यक्ति अपने आपको सांसारिक विषयों से हटा लेता है और अध्यात्मिक विषयों से अपने को जोड़ लेता है।

8. आसन

चित्तवृत्तियों का निरोध कर ध्यान, उपासनादि करने के लिए स्थिर होना कठिन होता है। अतः ध्यान करने के लिए योगसाधक को किसी ऐसे आसन का भी अभ्यास करना चाहिए, जिसमें दीर्घकाल तक सूखपूर्वक बैठ सके। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आसन के विषय में लिखा है– ''जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हों, उसको आसन कहते हैं अथवा जैसी रूचि हो वैसा आसन करें।''[15] योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि ''वह आसन स्थिरता तथा सुख देने वाला हो।''[16] स्थिरता से अभिप्राय है– ध्यान के समय शरीर के किसी भी अङ्ग के चंचल होते ही चित्त चंचल हो जायेगा। सुख का तात्पर्य है कि जिस आसन में साधक बैठा है, उसमें किसी प्रकार का कष्ट न हो। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं ''स्वच्छ स्थान पर अपना स्थिर आसन लगाकर, ऐसी जगह जो न अधिक ऊँची न अधिक नीची हो और आसन पर पहले कुशा फिर मृगछाला और उस पर वस्त्र बिछाकर ध्यान करें।''[17] ऐसी स्थिति में ''मन को एकाग्र करके, चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को रोक कर, आसन पर बैठकर आत्मशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण या मन की शुद्धि के लिए ध्यान में लग जाए।''[18] ''अपनी पीठ, सिर, गर्दन को सीधा अर्थात् एक सीध में तथा अचल रखकर अर्थात् बिना हिले–डुले, स्थिर होता हुआ, नासा के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर अन्य किसी दिशा में न देखते हुए ध्यान करें।''[19]

9. निर्भयता

एकाग्र मन होकर जब योगी आसन पर बैठता है जब वह निर्भय होकर बैठता है। उसे इस बात का डर नहीं रहता कि उसे विषय खीचेंगे।[20] जब तक मन स्थिर नहीं होता तब तक भय बना रहता है कि कहीं संसार के विषय उसे खींचकर मार्ग से भटका न दें।

10. ब्रह्मचर्य

महर्षि व्यास ने योगसूत्र पर भाष्य लिखते हुए स्पष्ट कहा है–''उपस्थेन्द्रिय का संयम करना ब्रह्मचर्य है।''[21] यद्यपि 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'वेद' भी है, परन्तु यहाँ सब गुणों का आश्रय होने से 'वीर्य'। वीर्य इस शरीर का राजा है, अतः इसकी सुरक्षा करना बहुत आवश्यक है। ''ब्रह्मचर्य के सेवन से वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है–एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है।''[22]

गीता के भाष्यकार सत्यव्रत सिद्धान्तकार लिखते हैं–''जब योगी ब्रह्मचर्य का पालन करता है तब वह 'ब्रह्म' अर्थात् महानता 'चर्य' अर्थात् विचरण करने लगता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है–महानता की तरफ चरण करना, गति करना। महानता की तरफ गति शरीर से, मन से, आत्मा से होती है। शरीर की महानता के लिए प्राचीन ऋषि–महर्षि यौन–मनोवेगों पर नियन्त्रण रखते थे। इससे उनका शरीर बलिष्ठ होता था। वे कहते थे– ब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमुपाघ्नत। मन की महानता ब्रह्मचर्य का दूसरा रूप है। ब्रह्मचारी सब प्रकार की मानसिक क्षुद्रता का त्याग कर देता है–यही मानसिक ब्रह्मचर्य है। आत्मा की महानता का अर्थ है परमात्मा के गुणों को अपने अन्दर धारण करना। ध्यान–योगी में निर्भयता के बाद ब्रह्म की महानता आ जाती है।''[23]

11. भगवान में एकाग्रचित होना

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं– ''जो प्रशान्त मन वाला है, भय से रहित, ब्रह्मचर्य के व्रत का पालनकर्ता, मन का संयम करके, मुझमें ही चित्त लगाकर मत्परायण होकर विचरण करने लगता है उसका चित्त भगवान में रमण करता है।''[24] आगे भी कहते हैं–''जो साधक इस प्रकार सदा अपने को मेरे साथ जोड़ लेता है, जिसका मन उसके वश में रहता है, ऐसा योगी मुझमें अन्तर्निहित परम निर्वाण वाली शान्ति को प्राप्त होता है।''[25] मन शून्य नहीं रहता है, या तो उसमें इन्द्रियों के विषय उभरते रहेंगे या उनका स्थान भगवान को देना होगा। जब मन में भगवान आ बसेंगे तब मन अपने आप एकाग्र हो जाएगा।

12. संयमित जीवन

ध्यान–योग का उद्देश्य है–कर्म की आसक्ति को छुड़ाना हे, जिससे कि हम कहने भर को निष्काम–कर्म न करें, सही रूप में निष्काम कर्म कर सकें। इसका प्रथम साधन है–'चित्त की एकाग्रता'। 'चित्त की एकाग्रता' का अर्थ है–''इन्द्रियों को विषयों से जो रस मिलता है, उससे चित्त को हटाकर भगवान में लगा देना। इसी को गीता में 'युक्त' कहा है''[26] 'युक्त' अर्थात् भगवान से जोड़ा गया। जब मन भगवान के साथ एकाग्रता के कारण जुड़ जाता है तब विषयों का रस छुट जाता है, आसक्ति रहती ही नहीं। आसक्ति के त्याग का दूसरा साधन गीता में कहा है–'संयमित जीवन'। संयमित जीवन का अर्थ है–जीवन की सभी क्रियाओं को, नाप–तोलकर करना। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–'हे अर्जुन!' ध्यान–योग उसके लिए नहीं है जो बहुत खाता है, न उसके लिए ही है जो बिल्कुल नहीं खाता है। यह उसके लिए भी नहीं जो अत्यधिक सोता है, न उसके लिए ही है जो अधिक जागता है।''[27] आगे कहते हैं ''जिसका आहार–विहार नियमित हो, जिसकी चेष्टायें नियमित हों, जिसका सोना–जागना उचित मात्रा में हो, ऐसे व्यक्ति में योग इस प्रकार का अनुशासित जीवन भर देता है, जिससे उसके सभी दुःख दूर हो जाते हैं।''[28]

गीता के भाष्यकार सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार इसको और अधिक स्पष्टता के साथ लिखते हैं–''आँख देखे, परन्तु आँख विषयों में इतनी न डूब जाये कि दृश्य जगत् में ही भटकती रहे, कान सुने, परन्तु राग में और तान में इतना लीन न हो जाए कि हर समय तबला और मृदङ्ग ही सूझे, जिह्वा चखे परन्तु चखने में ही व्याकुल न रहे। जब जीवन इस प्रकार नाप–तोलकर चलता है, तब वह अपने–आप अनासक्त हो जाता है, निष्काम हो जाता है।''[29]

13. समदृष्टि (समभाव)

भगवद्गीता में 'समदृष्टि' पर विशेष बल दिया गया है। गीता के छठे अध्याय में 'समदृष्टि' को 'ध्यान–योग' का साधन कहा है। 'सम–दृष्टि' होगी तो ध्यान होगा, भगवान में 'ध्यान' होगा, तो 'अनासक्ति होगी। 'सम–दृष्टि' को स्पष्ट करते हुए गीता में कहा है–''चाहे विद्या तथा विनय से युक्त पण्डित हो, चाहे गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल हो, जो सबको समान भाव से देखता है, वह पण्डित है।''[30] इसी क्रम में आगे भी कहा है, ''जिसका मन साम्यावस्था में स्थित हो जाता है, वे यहीं इसी जन्म में संसार को जीत लेते हैं।''[31] भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–''हे अर्जुन! सर्वत्र 'समभाव' से देखने वाला योगयुक्त व्यक्ति सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखता है। जो मुझे सब जगह देखता है और सब वस्तुओं को मुझ में देखता है वह मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता है और मैं उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता।''[32] आगे भी कहा है–''जो व्यक्ति सबको अपने समान देखता है, सुख–दुख दोनों में जो समान–स्थिति में रहता है, वह समदृष्टि वाला परम योगी है।''[33] गीता के दूसरे अध्याय में भगवान समभाव को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में समझाते हैं–''हे धनंजय! कर्मयोग में स्थित होकर, कर्म के फल की आसक्ति छोड़कर कर्म की सिद्धि या असिद्धि दोनों अवस्थाओं में समता की मनोवृत्ति को धारण करके कर्म कर। कर्म फल मिले या ना मिले दोनों अवस्थाओं में मन की सम अवस्था रहे– इसी को योग या ध्यान–योग कहते हैं।''[34]

14. अभ्यास, वैराग्य तथा श्रद्धा

ध्यान–याग के लिए चित्त की एकाग्रता, संयम तथा समत्व आवश्यक है, परन्तु इन सभी को किस प्रकार से जीवन में लाया जाए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–''हे अर्जुन मन को निययिन्त्रत करना बड़ा दुष्कर कार्य है, किन्तु वह मन 'अभ्यास' तथा 'वैराग्य' के द्वारा वश में हो सकता है।''[35]

इन अभ्यास और वैराग्य के अतिरिक्त एकाग्रता, संयम तथा समत्व प्राप्ति का तीसरा साधन है–'श्रद्धा'। इसीलिए गीता में कहा है–'श्रद्धावान्भजते यो माम्'– जो श्रद्धा से मेरा भजन करता है वह मेरा प्रिय है। इन तीनों विषयों को थोड़ा विस्तार से समझते हैं।

(क) अभ्यासः हमारे कार्य दो प्रकार के होते हैं– सकारात्मक तथा नकारात्मक अथवा 'विध्वंसक' ;क्मेजतनबजपअमद्ध तथा 'विधायक' ;ब्वदेजतनबजपअमद्ध। खेत में से घास को उखाड़कर फेंकना 'विध्वंसक' कार्य है, घास के स्थान पर खेती करना विधायक कार्य है। चित्त में से विषय रूपी झाड़–झंखाड़ को हटा देना वैराग्य है, उसकी जगह भगवान का चिन्तन करना 'अभ्यास' है। महर्षि पतञ्जलि ने भी कहा है–

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'[36] अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त को वश में करना चाहिए। इनमें से अभ्यास क्या है? योगसूत्रकार लिखते हैं–'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'[37] अर्थात् चित्त की सात्विक स्थिति में यत्न करते रहना अभ्यास है। यदि निरन्तर चित्त को एकाग्र करते रहने का यत्न किया जाएगा तो मन वश में आ जाएगा। कुमार्ग पर बार–बार जाने से उसका अभ्यास हो जाता है। यह कहना कि हम मन को नियंत्रित कर ही नहीं सकते, उचित नहीं है। गीता का मानना है कि यदि हम बार–बार अभ्यास करें तो मन नियंत्रित हो सकता है।

(ख) वैराग्यः गीता में 'विधायक' कार्य को अभ्यास कहा है और 'विध्वंसक' कार्य को 'वैराग्य' कहा है। वैराग्य से भी एकाग्रता, संयम तथा समत्व सिद्ध होता है। जैसे– मिष्टान्न की तरफ सभी का मन आकृष्ट होता है, परन्तु उस मिष्टान्न में विष मिला हुआ है, तब उससे तुरन्त वैराग्य उत्पन्न हो जाएगा। संसार के विषयों के प्रति सभी की लालसा बनी रहती है, परन्तु यह बोध जागृत हो जाए कि इन विषयों में उलझकर रोगों से घिर जाता है तब विषय वैराग्य को उत्पन्न कर देते हैं।

(ग) श्रद्धाः अभ्यास तथा वैराग्य के अतिरिक्त चित्त को एकाग्र करने का एक अन्य साधन भी है–'श्रद्धा'। गीता में कहा है–''जो श्रद्धावान लोग मेरे उपदेश का निरन्तर पालन करते हैं, वे कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।''[38] आगे भी कहा है–''जो श्रद्धा से मेरा भजन करता है, वह मेरे साथ जुड़ जाता है।''[39] श्रद्धा का सम्बन्ध हृदय से है। जो भगवान के प्रति अपने आपको हृदय से समर्पित कर देता है, उसका चित्त एकाग्र हो जाता है, वह संयमी हो जाता है, उसके लिए समत्व की भावना बुद्धि का नहीं, हृदय का भाव हो जाता है।

गीता में चित्त की एकाग्रता की विधि बतलाई गई है। किस स्थान में ध्यान करें, कैसे ध्यान करें, किसका ध्यान करें? एकान्त स्थान में भीड़–भाड़ से अलग, एकाकी, शुद्ध–पवित्र जगह पर आसन बिछाकर पीठ–सिर–गर्दन को एक सीध में रखकर, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि गड़ाकर, इधर–उधर न देखते हुए भगवान के चिन्तन में मन रमाकर ध्यान में बैठें। इस प्रकार भौतिक दृष्टि से इन्द्रियों के विषयों से हट जाने से विषयों की ओर आकृष्ट न होने में मन को सहायता मिलती है।

सन्दर्भ सूची

1. गीता 6.18–22
2. गीता 4.11
3. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। गीता 6.1

4. यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। गीता 6.4.11
5. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
   आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। गीता 6.5
6. गीता 6.10
7. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः। योगसूत्र 1.14
8. गीता 6/10
9. एकाकी यतचित्तात्मा निराशीपररिपग्रहः।। गीता 6.10
10. सिद्धान्तालंकार सत्यव्रत, गीताभाष्य, 6.17
11. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। गीता 2.59
12. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः। व्यासभाष्य, योगसूत्र 2.30
    प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
13. आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। गीता 2.55
14. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। गीता 2.56
15. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, उपासना विषय
16. स्थिरसुखमासनम्, योगसूत्र 2.46
17. गीता 6.11
18. तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचितेन्द्रिप्रक्रियः।
    उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये।। गीता. 6.12
19. समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
    संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।। गीता 6.13
20. गीता 6.14
21. योगसूत्र, व्यासभाष्य, 2.30
22. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः, योगसूत्र 2.38
23. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, गीताभाष्य, 6.17
24. प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः।
    मनः संयम्य मच्चित्तं युक्त आसीत मत्परः।। गीता 6.14
25. युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
    शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।। गीता 6.15
26. गीता 6.18
27. नात्यश्नस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नताः।
    न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। गीता 6.16
28. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
    युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। 6.17
29. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार गीताभाष्य, अध्याय 6 का उपसंहार
    विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
30. शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।। गीता 6.18
31. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। गीता 6.19
32. गीता 6.29–30
33. आत्मैष्पम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
    सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। गीता 6.32
34. योगस्थः कुरू कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
    सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। गीता 2.48
35. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। गीता 6.35
36. योगसूत्र 1.12
37. वही, 1.13
38. श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः। गीता. 3.31
39. श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः। गीता 6.47